दादाभाई नौरोजी

जे.सी. मेहता

"यदि मुझे भारत का वयोवृद्ध नेता कहा जाए और इस पर मैं बेहद खुशी जाहिर करूं तो क्या यह आत्मप्रदर्शन है? नहीं, यह खिताब तो मेरे प्रति मेरे देशवासियों के अपार स्नेह, कृतज्ञता और उदारता का प्रतीक है और मैं चाहे इसके योग्य हूं या नहीं, यह मेरे जीवन का सबसे बड़ा इनाम है।"

दादाभाई नौरोजी

दादाभाई नौरोजी

दादाभाई नौरोजी के जीवन काल में भारत अपने इतिहास की दृष्टि से घोर अंधकार के दौर से गुजर रहा था। अंगरेज भारत में अपना विस्तार कर रहे थे और अपना शिकंजा मजबूती से कसते जा रहे थे। जिन भारतीय राजा महाराजाओं ने विदेशी आक्रमण के विरुद्ध परंपरागत रूप से नेतृत्व किया था, वे अंगरेजों से पूरी तरह परास्त हो चुके थे।

भारतीय जनता और उसका सामाजिक व आर्थिक जीवन एकदम क्षीण हो गया था। उनकी हिम्मत टूट चुकी थी और उन्होंने सब कुछ भाग्य के भरोसे छोड़ दिया था। सारे देश का खून मानो सफेद पड़ गया था, ऐसा लगता था जैसे लोगों ने बेहोशी की दवा पी रखी है।

पहले के हमलावरों की तरह अंगरेज लूटपाट करने वाले छापामारों की तरह भारत में नहीं आए। वे व्यापारिक गतिविधियों के जरिए भारत में चुपचाप प्रविष्ट हुए। उन्होंने स्थानीय राजाओं-नवाबों की आपसी प्रतिद्वंद्विता का फायदा उठाकर उनकी एक-दूसरे के खिलाफ मदद की और उकसाया। उन्होंने सारे देश पर कब्जा कर लिया और वे उसे अपनी जायदाद समझने लगे। उनका एकमात्र उद्देश्य था—भारत को कमजोर करके रातोंरात अमीर बनना। अंगरेजों ने शोषण के जो विविध तरीके अपनाए वे इतने चालाकी भरे थे कि भोले-भाले भारतवासी उन्हें समझ ही नहीं पाए।

इसके अलावा अलग रंगरूप, वेशभूषा, भाषा तथा संस्कृति के कारण

अंगरेजों ने अपनी अलग और बेहतर पहचान बना ली, मानो उन्होंने शासन करने के लिए ही जन्म लिया हो। उन्होंने भारतवासियों को तिरस्कार के लहजे में 'काला आदमी' कहकर जले पर नमक छिड़का और उन्हें असभ्य तथा कमजोर चरित्र का कम अक्ल वाला आदमी समझा।

ऐसे समय में दादाभाई नौरोजी ने देश को निस्वार्थ एवं अखण्ड नेतृत्व प्रदान किया। उन्होंने एक ओर देशवासियों को नींद से जगाया और दूसरी ओर अंगरेजों द्वारा देश के निरंतर शोषण तथा भारतवासियों की गरीबी के खिलाफ आवाज उठाई। दादाभाई नौरोजी की जीवन गाथा अद्वितीय देशभक्ति तथा अपनी मातृभूमि के प्रति निस्वार्थ समर्पण का वृत्तांत है।

प्रारंभिक जीवन

दादाभाई का जन्म 4 सितंबर, 1825 को मुंबई में एक गरीब पुरोहित पारसी परिवार में हुआ था। दादाभाई अभी चार वर्ष के ही थे कि उनके पिता नौरोजी पालनजी दोरदी की मृत्यु हो गई। उनकी माता मानेकबाई ने कठिन परिश्रम करके दादाभाई का पालन-पोषण किया। हालांकि वे स्वयं अनपढ़ थीं किंतु उन्होंने अपने पुत्र को उत्तम अंगरेजी शिक्षा दिलवाई और उनमें उत्कृष्ट चरित्र विकसित किया।

स्कूल में दादाभाई ने मानसिक गणित में विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया। गौरवर्ण, सुंदर चेहरे तथा छरहरे बदन के कारण सभी का ध्यान उनकी ओर आकर्षित होता था। बड़े-बूढ़े अक्सर उन्हें 'जोंगलो' (अंगरेज) कहते थे। दादाभाई ने अपनी उच्च शिक्षा मुंबई के एल्फिंस्टन इंस्टिटयूशन (अब कॉलेज) में प्राप्त की। कॉलेज में उन्होंने असाधारण योग्यता का परिचय दिया और अंगरेजी तथा गणित में विशिष्ट स्थान प्राप्त किया। उनके एक अध्यापक प्रोफेसर ओर्लेबर उन्हें "भारत का होनहार" कहा करते थे। मुंबई के तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश और शिक्षा बोर्ड के अध्यक्ष, सर एर्सकीन पेरी, दादाभाई की प्रतिभा से

इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने कहा कि यदि दादाभाई उच्च शिक्षा के लिए इंग्लैंड जाना चाहें तो पढ़ाई का आधा खर्च वे स्वयं उठाने को तैयार हैं। परंतु पारसी समुदाय के बुजुर्गों ने जिन्हें बाकी का आधा खर्च उठाना था, यह पेशकश ठुकरा दी। उन्हें डर था कि कहीं दादाभाई भी पहले इंग्लैंड गए नौजवानों की तरह वहां ईसाई धर्म स्वीकार करके किसी अंगरेज लड़की से शादी न कर लें।

शिक्षा पूरी करके दादाभाई नौरोजी को एल्फिंस्टन इंस्टिट्यूशन में हैड नेटिव असिस्टेंट मास्टर की नौकरी मिल गई। जल्दी ही वे सहायक प्रोफेसर बन गए तथा दो वर्ष बाद वे गणित और प्राकृतिक दर्शन शास्त्र के प्रोफेसर बना दिए गए। इस पद पर नियुक्त होने वाले वे पहले भारतीय थे। दादाभाई इसे अपने कार्य-काल की सबसे बड़ी घटना मानते थे।

सुधारक

संतोषजनक नौकरी मिल जाने के बाद दादाभाई का ध्यान समाज सुधार की ओर गया। वे स्त्री-पुरुष की समानता में विश्वास करते थे। उन्होंने देखा कि भारतीय महिलाओं के पिछड़ेपन का मुख्य कारण उनमें व्याप्त अशिक्षा है। उन्होंने अपने समाज सुधार के काम की शुरुआत औरतों को शिक्षित करने से की।

एल्फिंस्टन इंस्टिट्यूशन की 'स्टूडेंट्स लिटरेरी एंड साइंटिफिक सोसायटी' की मदद से उन्होंने 4 अगस्त, 1849 को लड़कियों के लिए मराठी तथा गुजराती की मुफ्त कक्षाएं लगाना प्रारंभ किया। परंतु रूढ़िवादी लोगों ने इसका कड़ा विरोध किया। उन्होंने अपनी लड़कियों को इन कक्षाओं में नहीं भेजा क्योंकि वे सोचते थे कि शिक्षा से लड़कियां 'बिगड़' जाएंगी। शुरू में उन्हें लड़कियों को कक्षाओं में बुलाने के लिए घर-घर जाकर लोगों को धैर्यपूर्वक समझाने में महीनों लग गए।

समय के साथ लोगों को महिला शिक्षा के फायदे समझ में आने लगे तथा उन्होंने लड़कियों के स्कूलों के लिए दो उपयुक्त भवन भी उपलब्ध

कराए। दादाभाई तथा उनके सेवाभावी साथी इन स्कूलों में अवैतनिक अध्यापक के रूप में पढ़ाते थे। समृद्ध कामा परिवार ने दो वर्ष तक स्कूलों के लिए धन दिया। उसके बाद स्कूलों को चलाने और धन की व्यवस्था करने का काम जनता ने खुद संभाल लिया और इस तरह के कुछ और स्कूल भी खोले। इस प्रकार लड़कियों के लिए शिक्षा परिवार और समाज के स्तर पर मानदंड बन गई।

दादाभाई और उनके समर्पित साथियों द्वारा इस दिशा में मार्ग प्रशस्त किए जाने की अत्यंत सराहना हुई। मुंबई के गवर्नर ने इसे "मुंबई प्रेसीडेंसी में शिक्षा के इतिहास की युगांतरकारी घटना" कहकर प्रशंसा की।

दादाभाई ने औरतों के प्रति उस समय हो रहे अन्य बहुत से अन्यायों के खिलाफ भी आवाज उठाई।

पुरुषों में प्रौढ़ शिक्षा के प्रसार के लिए दादाभाई ने ध्यान प्रसारक मंडली ज्ञान संवर्धन के लिए समिति की ज्ञान स्थापना की। इस मंडली द्वारा बड़ी-बड़ी सभाएं आयोजित करके स्थानीय भाषाओं में सामान्य जागरूकता के विषयों पर चर्चा की जाती थी। लोक विज्ञान के विषयों पर व्याख्यान तथा साथ में विज्ञान के प्रयोग दिखाने के कार्यक्रमों में बड़ी संख्या में श्रोता इकट्ठे होते थे। कुछ ही सालों में लोगों में जागरूकता तथा उनके विचारों व जीवन शैली में स्पष्ट परिवर्तन दिखाई पड़ने लगा।

दादाभाई का सामाजिक कार्य केवल शिक्षा तक ही सीमित नहीं था। उन्होंने विधवा विवाह समिति, पारसी व्यायामशाला, ईरानी फंड, विक्टोरिया एंड अल्बर्ट म्यूज़ियम, फ्रामजी कोवसजी इंस्टिट्यूट के अलावा देश भर में टेंपरेंस सोसाइटी (मद्‌य निषेध समितियां) बनाई। उन्होंने खुद-काम करके, मार्गदर्शन देकर तथा चंदा लेकर और अन्य कई स्रोतों से धन एकत्र करके इन संगठनों की गतिविधियों में भी सहायता की।

अपने सुधार आंदोलन को और आगे बढ़ाने तथा प्रगतिशील विचारों के प्रसार के उद्‌देश्य से दादाभाई ने 15 नवंबर, 1851 को गुजराती में

पाक्षिक पत्रिका, रस्त गुफ्तार (सत्य भाषी) का प्रकाशन शुरू किया। इसके खर्च का भार उनके मित्र खुर्शेदजी नोशेरवांजी कामा ने उठाया। दादाभाई बिना पारिश्रमिक लिए काम करते थे। पत्रिका में कोई विज्ञापन नहीं होता था और शुरू में यह मुफ्त बांटी जाती थी। बाद के वर्षों में दादाभाई ने जब भी जरूरत समझी, कुछ और पत्रिकाएं भी प्रकाशित कीं।

राजनीति में

भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी, इंग्लैंड में ब्रिटिश सरकार द्वारा मंजूर किए गए 20 साल के पट्टे पर काम कर रही थी। कंपनी को सन् 1833 में जारी किए गए इस पट्टे की अवधि सन् 1853 में समाप्त होनी थी। सन् 1852 में कंपनी पट्टे के नवीनीकरण के लिए आवेदन पत्र दिया। शिक्षित भारतीयों ने, जो कंपनी को भारत की कई मुसीबतों के लिए जिम्मेदार मानते थे, अवधि बढ़ाने के अनुरोध का विरोध करने का फैसला किया।

दादाभाई ने एल्फिंस्टन इंस्टिट्यूशन में सरकारी नौकरी के बावजूद वहां बहुत बड़ी सभा के आयोजन में अग्रणी भूमिका निभाई। 26 अगस्त, 1852 को मुंबई प्रेसिडेंसी के पहले राजनीतिक संगठन, मुंबई एसोसिएशन का गठन हुआ। संगठन की ओर से पट्टे के नवीनीकरण का विरोध करते हुए एक जोरदार याचिका इंगलैंड में ब्रिटिश सरकार को भेजी गई।

यद्यपि इस याचिका से पट्टे का नवीनीकरण नहीं रुका तथापि इससे इंग्लैंड में हलचल जरूर मच गई। सही सोच वाले बहुत से अंगरेज नेताओं ने भारत की मांग के समर्थन में भाषण दिए और लेख लिखे। इससे इंग्लैंड में भारत के बारे में प्रचलित कई गलत धारणाएं दूर हो गईं। दादाभाई ने इससे यह बात सीखी कि सूझबूझ और संगठित ढंग से चलाए जाने वाले आंदोलन का अच्छा लाभ मिलता है और शिक्षाविद् दादाभाई, राजनीतिज्ञ दादाभाई बन गए।

देश की समस्याओं का विश्लेषण

दादाभाई मानते थे कि भारत में अंगरेजों का कुशासन ही गरीबी, अज्ञानता और अकाल जैसी सभी समस्याओं की जड़ है। परंतु वे यह भी मानते थे कि अंगरेज जान-बूझकर कुशासन नहीं कर रहे हैं, क्योंकि उन्होंने किताबों में यही पढ़ा था कि अंगरेज निष्पक्ष और न्यायप्रिय होते हैं। भारत को नुकसान इसलिए पहुंच रहा था क्योंकि अंगरेज भारतीय जीवन-शैली और भारतवासियों की जरूरतों के प्रति अनभिज्ञ थे। इसलिए दादाभाई नौरोजी ने मुंबई एसोसिएशन में अपने पहले भाषण में कहा, "ब्रिटिश सरकार हम पर कोई भारी जुल्म नहीं कर रही...जिन बुराइयों के बारे में हमें शिकायत है, उसका कारण है अपने देश से सीधे यहां आने वाले यूरोपीय अधिकारियों की अनभिज्ञता।"

इन हालात को ठीक करने के लिए उन्होंने छोटी-छोटी रियायतों की मांग की, जैसे कि भारतीयों को उच्च पदों पर नियुक्त किया जाए; उन्हें प्रशासन तथा विधान मंडलों के संचालन में भागीदार बनाया जाए, इंडियन सिविल सर्विस (आई.सी.एस) की प्रतियोगी परीक्षा भारत और इंग्लैंड में एक साथ कराई जाए, भारतीयों को इंग्लैंड में पढ़ाई के लिए छात्रवृत्तियां दी जाएं और भारतीय प्रशासन का खर्च कम किया जाए तथा अपने हिस्से का खर्च इंग्लैंड उठाए। ये रियायतें आज भले ही मामूली दिखाई देती हैं, परंतु दादाभाई को इन्हें प्राप्त करने के लिए बहुत लंबा संघर्ष करना पड़ा।

समाधान के रूप में दादाभाई के मन में तीन सूत्री कार्यक्रम था: (क) भारत के आम लोगों को शिक्षित करना और उन्हें अपने अधिकारों के प्रति जागरूक बनाना। उस दिशा में उन्होंने अपने शिक्षात्मक एवं अन्य कार्यक्रमों के जरिए शुरूआत कर दी थी। (ख) भारत में कार्यरत ब्रिटिश अधिकारियों को देश की समस्याओं की जानकारी देना; इसके लिए उन्होंने गवर्नरों तथा वाइसरायों को निवेदन पत्र भेजकर उनकी गलत नीतियों की ओर ध्यान दिलाया तथा उन्हें यह बताया कि भारत के हित की बातें क्या हैं: (ग) ब्रिटिश जनता तथा संसद को (जो भारत

में सरकार की नियुक्ति करती और उस पर नियंत्रण रखती थी) भारत की समस्याओं के बारे में समझाना। इसके लिए लंबे समय तक इंग्लैंड में रहना जरूरी था जो दादाभाई जैसे सामान्य आर्थिक स्थिति वाले व्यक्ति के बूते का नहीं था।

ऐसे संकट की घड़ी में कामा परिवार द्वारा इंग्लैंड में एक व्यापारिक फर्म खोलने के निर्णय से और दादाभाई को भागीदार के रूप में इंग्लैंड ले जाने की पेशकश से जैसे उनके लिए अप्रत्याशित लाभ का मार्ग खुल गया। यह देखकर सब लोग हैरान रह गए कि दादाभाई ने प्रोफेसर के पद से इस्तीफा दे दिया और कामा परिवार का प्रस्ताव मंजूर कर लिया। इसमें धन कमाने का इरादा देखते हुए प्रिंसिपल हार्कनेस ने कहा, "दादाभाई, कितने नीचे गिर गए!"

परंतु दादाभाई के लिए देश की सेवा सबसे पहले थी और बाकी सब बातें बाद में। जिसे कुछ लोगों ने पैसे का लालच माना था, वास्तव में वह मातृभूमि के लिए स्वेच्छा से निर्वासन स्वीकार करना था। अपनी युवा पत्नी गुलबाई और बच्चों को अपनी बूढ़ी मां तथा एक दोस्त के भरोसे छोड़कर दादाभाई 27 जून, 1855 को इंग्लैंड रवाना हो गए।

दादाभाई का इंग्लैंड जाने के पीछे ब्रिटिश लोगों को शिक्षित करने के साथ-साथ एक और उद्देश्य उन भारतीय छात्रों की देखरेख करना था जो उच्च शिक्षा लेने या आई.सी.एस. की परीक्षा में बैठने के लिए वहां जाते थे। घर से दूर, अलग जलवायु तथा भिन्न सामाजिक परिवेश में उन्हें बहुत-सी मुश्किलें पेश आती थीं। दादाभाई वहां एक मार्गदर्शक और संरक्षक की तरह उनकी देखभाल करते थे। वे उनके भौतिक सुख-दुख की देखभाल के साथ-साथ उनमें मेल जोल बनाए रखते थे और उनके मन में राष्ट्रीय स्वाभिमान का भाव जागृत करते थे।

महात्मा गांधी 'बार-एट लॉ की पढ़ाई के लिए जब सन् 1888 में इंग्लैंड गए तो उन्हें भी दादाभाई का संरक्षण मिला। महात्मा गांधी ने दादाभाई के बारे में लिखा, "...असल में वे सभी भारतीय विद्यार्थीयों के लिए पिता के समान थे...और इसलिए दादाभाई मेरे लिए भी सचमुच के दादा बन गए।"

वहां उनकी कंपनी का व्यापार आराम से चल रहा था और मुनाफा भी हो रहा था। परंतु दादाभाई को यह बात अच्छी नहीं लगी कि कामा एंड कंपनी अफीम और शराब जैसी चीजों का भी व्यापार करती थी। उनके खयाल में ये चीजें इस्तेमाल करने वालों और उनके परिवारों की जिंदगी बरबाद करती थीं। ऐसे व्यापार से कमाया गया पैसा अपने पास रखने की बात उन्हें रास नहीं आई और वे कामा एंड कंपनी से अलग हो गए।

सन् 1859 में उन्होंने इंग्लैंड में दादाभाई नौरोजी एंड कंपनी की स्थापना की। उसमें वे ईमानदारी तथा नैतिकता के अपने सिद्धांतों के मुताबिक काम कर सकते थे। उन्होंने दुनिया को दिखा दिया कि ईमानदारी से काम करके और अफीम व शराब जैसी बुरी चीजों के व्यापार से बचकर भी अमीर बना जा सकता है।

अमेरिका में गृहयुद्ध रुक जाने के बाद इंग्लैंड में अधिकतर व्यापारिक प्रतिष्ठानों का काम-काज ठप हो गया। जिन फर्मों को दादाभाई की बड़ी-बड़ी रकम चुकानी थी, वे नहीं चुका पाईं। इसके बावजूद दादाभाई ने अपनी देनदारियां चुकाने के साथ-साथ उन लोगों की बकाया रकम भी चुकता की जिनके लिए उन्होंने जमानत दी थी। हालांकि इस तरह उन्होंने स्वयं को तबाह कर लिया किंतु ईमानदारी और अच्छे आचरण के लिए उन्होंने ख्याति अर्जित की। दोस्तों की मदद से उनका व्यापार चल निकला और वे फिर अमीर बन गए।

भारत द्वारा आह्वान

कुछ समय के पश्चात् दादाभाई का ज्यादा वक्त देशभक्ति के कामों में लगने लगा और उनका व्यवसाय गौण होकर पृष्ठभूमि में चला गया। कुछ समय तक तो वे अपने मैनेजरों की मदद से कारोबार चलाने की कोशिश करते रहे, परंतु अंत में सन् 1881 में उन्हें कारोबार बंद करना पड़ा।

सन् 1855 से सन् 1907 तक दादाभाई कभी भारत में और कभी

इंग्लैंड में रहते रहे। ऐसा वे अपने कारोबार या परिवार के कारण कम, देश प्रेम के कारण अधिक कर रहे थे। इंग्लैंड में वे जनता तथा संसद सदस्यों में भारत की समस्याओं के प्रति जागरूकता लाना चाहते थे और वहां भारत के मित्र तथा हमदर्द तैयार करना चाहते थे। इसके लिए वे विद्वानों की कई संस्थाओं के सदस्य बने और उनकी गतिविधियों में भाग लिया। उन्होंने इन संस्थाओं में भारतीय समस्याओं के बारे में व्याख्यान दिए तथा वहां से प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखे।

दादाभाई ने कई नई संस्थाएं भी बनाईं। उन्होंने सन् 1865 में लंदन इंडियन सोसायटी और 1 दिसंबर, 1866 को ईस्ट इंडिया एसोसिएशन की स्थापना की। दूसरी संस्था के सदस्य वे लोग थे जो भारत में उच्च पदों से सेवानिवृत्त हुए थे। उनमें से कुछ व्यक्ति तब तक संसद के सदस्य बन चुके थे या इन सदस्यों तक उनकी पहुंच थी। इन संस्थाओं के कार्यकलापों के जरिए दादाभाई को संसद के अंदर और बाहर अनेक लोगों को भारतप्रेमी बनाने में सफलता मिली। इन लोगों की मदद से वे उन कार्रवाइयों का विरोध कर सकते थे जिनसे इंग्लैंड में रह रहे भारतीय छात्रों या दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों अथवा भारत के हितों को नुकसान पहुंच सकता था। वे बार-बार संसद में भारत की समस्याओं पर प्रश्न उठवाते और चर्चा करवाते थे। ईस्ट इंडिया एसोसिएशन को अधिक सक्रिय और उपयोगी समझकर उन्होंने उसकी शाखाएं मुंबई, कलकत्ता और चेन्नई में भी खोल दीं।

अंगरेजों की कड़ी आलोचना करते हुए दादाभाई उन्हें भारत की गरीबी और अज्ञान के लिए जिम्मेदार ठहराते थे। यहां तक कि भारत में दुर्भिक्ष और प्लेग जैसी बीमारियों के लिए भी वे उन्हें ही जिम्मेदार मानते थे क्योंकि उन्होंने इन सबकी रोकथाम के लिए कुछ नहीं किया। दादाभाई ने बड़ी दृढ़ता के साथ यह बात कही कि अंगरेज भारत पर शासन भारतीयों के लिए नहीं कर रहे हैं। इसके अलावा भारत में उनका शासन वैसा नहीं था जैसा इंग्लैंड में था। दादाभाई वहां भारत के गैर-सरकारी राजदूत की तरह रहे। भारत के खिलाफ कही गई किसी भी बात को उन्होंने बिना प्रतिवाद किए नहीं छोड़ा।

दादाभाई के प्रयासों को पहली सबसे बड़ी सफलता सन् 1866 में मिली जब भारत के लिए सेक्रेटरी ऑफ स्टेट को साठ में से नौ भारतीयों को आई.सी.एस के लिए नामजद करने को राजी होना पड़ा। दादाभाई के लिए यह महत्वपूर्ण विजय थी, हालांकि उन्हें नामांकन के जरिए नियुक्ति होना पसंद नहीं था।

दीवान

जिन संगठनों को दादाभाई नौरोजी ने स्थापित किया था, उनके लिए धन एकत्र करने के लिए उन्हें अनेक लोगों के पास जाना पड़ता था। इसके लिए वे भारतीय रियासतों के राजाओं व नवाबों के पास भी गए। दादाभाई इन सब के बीच लोकप्रिय थे क्योंकि वे उन्हें बहुत-से मामलों में अनौपचारिक सलाह भी दिया करते थे। कुछ राजा-महाराजाओं ने तो उन्हें खुलकर दान दिया।

उन्हीं में से एक, बड़ौदा के महाराजा मल्हारराव गायकवाड़ तो अपने कुशासन तथा जघन्य कार्यों के कारण हमेशा मुसीबत में रहते थे। उनके गलत कार्यों की जांच के लिए सरकार ने आयोग गठित किया था। उस समय महाराजा ने दादाभाई की जरूरत महसूस करके उन्हें सन् 1874 में अपना दीवान नियुक्त किया। दादाभाई ने बहुत बेमन से यह पद स्वीकार किया।

बड़ौदा में ब्रिटिश सरकार का रेजीडेंट दादाभाई को पसंद नहीं करता था अतः वह सरकार को दादाभाई के खिलाफ बेसिर पैर की उल्टी रिपोर्टें भेजने लगा। परंतु सरकार ने दादाभाई के विरुद्ध कोई कार्रवाई करने के बजाय रेजीडेंट को लताड़ा और उसका बड़ौदा से तबादला कर दिया। इससे पता चलता है कि ब्रिटिश सरकार की नीतियों की हमेशा आलोचना करने के बावजूद दादाभाई का सरकार में कितना अच्छा रसूख था।

एक साल के भीतर दादाभाई ने रियासत के पूरे प्रशासन को स्वच्छ और चुस्त-दुरुस्त बना दिया तथा वहां कुशलता व ईमानदारी से काम

होने लगा। जब जांच का खतरा कम हो गया तो महाराजा को कठोर अनुशासन तथा ईमानदारी अखरने लगी। महाराजा के मन की बात भांपकर दादाभाई ने सन् 1875 में दीवान के पद से इस्तीफा दे दिया और मुंबई चले गए। कुछ ही दिनों बाद उन्हें खबर मिली कि उनके वहां से चले आने पर मन ही मन खुश हो रहे महाराजा को गद्दी से उतार कर गिरफ्तार कर लिया गया था।

इंग्लैंड लौटने से पहले सन् 1875 में दादाभाई मुंबई नगर निगम के सदस्य निर्वाचित हुए तथा उसकी वित्त समिति के लिए भी चुने गए। वहां अपने संक्षिप्त कार्यकाल में ही उन्होंने नए जल प्रबंध कार्यों पर होने वाले खर्च तथा कर्जों पर ब्याज के भुगतान में काफी बचत करके वाहवाही लूटी।

'ड्रेन थ्योरी' (धन निर्गम सिद्धांत)

दादाभाई गणित और धन तथा सार्वजनिक वित्त संबंधी मामलों में बहुत ही निपुण थे। वर्षों की अथक मेहनत के बाद आंकड़े और तथ्य एकत्र करके उन्होंने एक नया सिद्धांत प्रतिपादित किया, जिसे उन्होंने 'ड्रेन थ्योरी' नाम दिया। संक्षेप में इसका अर्थ है कि किसी देश पर विदेशी शासन का अपरिहार्य परिणाम होता है, शासित देश के धन को शासक देश द्वारा चूस लेना या हड़पकर अपने देश में ले जाना।

इसलिए दादाभाई भारत की घोर गरीबी के लिए ब्रिटिश सरकार को ही पूरी तरह दोषी मानते थे। उनका कहना था कि भारत की गरीबी हर साल बढ़ती जा रही है। उन्होंने आंकड़ों से सिद्ध किया कि एक भारतीय की औसत सालाना आय सिर्फ 20 रुपए है जबकि 'कर' बहुत अधिक वसूल किए जाते हैं। गरीबी में डूबे होने के बावजूद भारत दुनिया में सबसे अधिक शानो-शौकत और खर्च वाले प्रशासन का बोझ उठाए हुए है। उन्होंने उदाहरण दिया कि ब्रिटेन के प्रधानमंत्री का मासिक वेतन 5 हजार रुपए है जबकि भारत के गवर्नर जनरल को भारतीय खजाने से 20 हजार रुपए मासिक वेतन मिलता है।

37 साल के आयात-निर्यात के आंकड़ों का हवाला देते हुए उन्होंने सिद्ध किया कि हर साल भारत के आयात के मुकाबले उसका निर्यात 50 करोड़ रुपए अधिक है। परंतु यह राशि भारत में कभी नहीं आती। इसके विपरीत भारत को हमेशा घाटे की स्थिति में ही दिखाया जाता है। उन्होंने अंगरेज शासकों द्वारा भारत की संपत्ति हड़पने के लिए अपनाए जा रहे हथकंडों का कच्चा चिट्ठा ब्रिटिश जनता तथा दुनिया के सामने खोलकर रख दिया।

दादाभाई के सुझाव पर भारत के प्रशासन की जांच के लिए संसद के दोनों सदनों की एक प्रवर समिति नियुक्त की गई। परंतु समय से पहले संसद भंग हो जाने के कारण यह समिति काम नहीं कर सकी। जिन ब्रिटिश लोगों को दादाभाई 'न्यायप्रिय' समझते थे उनसे दादाभाई का मोहभंग होता जा रहा था। अपने एक लेख में उन्होंने लिखा, "सच तो यह है कि इंग्लैंड भारत का सबसे अधिक अनर्थकारी और विध्वंसात्मक विदेशी हमलावर है।" निराश होकर उन्होंने भारत के 'सेक्रेटरी ऑफ स्टेट' को पत्र लिखकर कहा, "यदि लोगों की कठिनाइयां दूर नहीं की गईं तो वे न केवल ब्रिटिश सामान का बल्कि ब्रिटिश शासन का भी बहिष्कार करेंगे।" उनकी यह भविष्यवाणी बाद में कितनी सच निकली!

ब्रिटिश सरकार ने दादाभाई के अनुनय विनय तथा चेतावनियों पर कोई ध्यान नहीं दिया, बल्कि उसका रवैया और सख्त होता गया। ब्रिटिश शासन की बुराइयों को दुनिया के सामने रखने के उद्देश्य से उन्होंने अपने लेखों, याचिकाओं और वक्तव्यों को संकलित करके इंग्लैंड में *पॉवर्टी एंड दि अन-ब्रिटिश रूल इन इंडिया* शीर्षक से एक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया। यह स्मारकीय पुस्तक भारतीय अर्थशास्त्र के छात्रों द्वारा आज भी रुचि के साथ पढ़ी जाती है।

इंडियन नेशनल कांग्रेस

ए.ओ. ह्यूम द्वारा सन् 1885 में इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना होना भारत के स्वतंत्रता संग्राम की सबसे महत्वपूर्ण घटना है। दादाभाई

ने कांग्रेस की स्थापना में मदद की। ये इसके संस्थापक सदस्यों में से एक थे। कांग्रेस ने पूरे देश में हलचल मचा दी और लोगों में बड़ी तेजी से एकता तथा राष्ट्रवाद की भावना का संचार किया। जो स्वतंत्रता आंदोलन कुछ पढ़े-लिखे लोगों तक ही सीमित था, अब जन आंदोलन बन गया; इसी के लिए दादाभाई एक लंबे अरसे से जूझ रहे थे।

इसके बाद दादाभाई भारत में रहे या इंग्लैंड में, कांग्रेस ही उनके चिंतन का केंद्र बनी रही। उन्होंने प्रारंभिक अवस्था में कांग्रेस का पोषण किया। उसके विरुद्ध की गई आलोचनाओं का जवाब दिया तथा विभाजनकारी प्रवृत्तियों से उसकी रक्षा की। उन्होंने सन् 1886 (कलकत्ता), सन् 1893 (लाहौर) और सन् 1906 (कलकत्ता) में हुए कांग्रेस के तीन अधिवेशनों की अध्यक्षता की।

सन् 1906 में पार्टी के भीतर उग्रवादी गुट के उभर आने के कारण कांग्रेस दो भागों में विभाजित होने के कगार पर थी। पार्टी को टूटने से बचाने के उद्देश्य से दादाभाई को कलकत्ता अधिवेशन की अध्यक्षता करने के लिए विशेष रूप से इंग्लैंड से बुलाया गया। अपनी सूझबूझ से उन्होंने कांग्रेस को एकजुट रखा। इसी अधिवेशन में उन्होंने पहली बार कांग्रेस के मंच से 'स्वराज' अथवा भारत के लिए स्वशासन की मांग की। उन्होंने कहा, "अच्छा शासन कभी भी लोगों के अपने शासन का विकल्प नहीं हो सकता...हमें किसी की कृपा दृष्टि नहीं चाहिए, हमें केवल न्याय चाहिए...यह संपूर्ण विषय एक ही शब्द में व्यक्त किया जा सकता है और वह है 'स्वराज'...स्वराज भारत की सभी समस्याओं का एकमात्र समाधान है।"

संसद सदस्य

सन् 1886 में जब दादाभाई ने लंदन के होल्बोर्न चुनाव क्षेत्र से ब्रिटेन के हाउस ऑफ कॉमंस में जाने के लिए चुनाव लड़ा तो बहुत से लोगों ने उनकी भर्त्सना की। परंतु सन् 1892 में वह दिन स्वयं दादाभाई के लिए, भारत के लिए तथा लिबरल पार्टी के लिए गौरवशाली

था जब वे सेंट्रल फिंसबरी चुनाव क्षेत्र से निर्वाचित घोषित किए गए। ब्रिटिश मतदाताओं के मतों से वहां की शाही संसद के लिए चुने जाने वाले वे पहले भारतीय सदस्य थे। यह शेर की मांद में जाकर उसका मुकाबला करने के समान था। इससे भारत और इंग्लैंड में खुशी की लहर दौड़ गई। यह ब्रिटिश जनता की उदारता और इंग्लैंड में दादाभाई की लोकप्रियता का प्रत्यक्ष प्रमाण था।

हाउस ऑफ कॉमंस जहां उनके मित्र, उनके विचार को साकार करते थे, परंतु अब वहां अपनी लड़ाई खुद लड़ने के लिए दादाभाई स्वयं पहुंच गए। जल्दी ही संसद के परिपक्व सदस्य माने जाने लगे और उन्होंने सत्तारूढ़ पार्टी तथा विपक्षी दल दोनों के सदस्यों का मन जीत लिया। मुद्रा (करेंसी), विनिमय, धन व वित्त जैसे विषयों पर खासकर भारत के संदर्भ में वे बहुत जोरदार ढंग से अपनी बात रखते थे। उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में रहने वाले भारतीयों और इंग्लैंड में रह रहे भारतीय विद्यार्थीयों के लिए संघर्ष किया।

हालांकि वे विपक्षी दल के थे तो भी आई.सी.एस. की प्रारंभिक परीक्षा भारत व इंग्लैंड में एक साथ कराने के अपने प्रस्ताव को पारित करवा कर उन्होंने वहां की सरकार को आश्चर्य चकित कर दिया। सन् 1895 में भारतीय व्यय के लिए रॉयल कमीशन नियुक्त करवाना तथा इंग्लैंड और भारत के बीच प्रशासनिक व सैनिक खर्च के न्यासंगत बंटवारे पर विचार करने के लिए विल्बी कमीशन की नियुक्ति करवाना उनकी और बड़ी उपलब्धि थी। उन्हें इस आयोग का सदस्य बनाया गया। इस हैसियत में काम करने वाले वे प्रथम भारतीय थे।

उन्होंने कमीशन के सामने दो लंबे बयानों के रूप में अपने विचार रखे तथा गवाह के नाते प्रमाण भी पेश किए। अपनी मौखिक गवाही में दादाभाई ने कहा कि भारत के लोगों को वाइसराय, गवर्नर तथा कमांडर-इन-चीफ से कम दर्जे के किसी ब्रिटिश अधिकारी की जरूरत नहीं है और समय आने पर भारत की जनता इनसे भी अपना पिंड छुड़ा लेगी। उन्होंने इंग्लैंड के साथ खर्च के बंटवारे में मौजूद असमानताओं को बड़े जोरदार ढंग से पेश किया। सरकार ने आयोग की सिफारिशें

मंजूर कर लीं और भारत में वित्तीय अनियमितताओं को दूर करना शुरू कर दिया।

संसद के लिए चुने जाने के बाद सन् 1893 में कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन की अध्यक्षता करने के लिए दादाभाई भारत आए तो मुंबई बंदरगाह पर उनका शानदार स्वागत किया गया। सबसे पहले मुंबई के गर्वनर ने उनका स्वागत किया। मुंबई से लाहौर जाते हुए तथा वहां से लौटते हुए जिस स्टेशन पर रेलगाड़ी रुकती लोग उन्हें हार पहनाकर अपनी खुशी जाहिर करते और उनके प्रति सम्मान व्यक्त करते।

दिसंबर, 1906 में कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन की अध्यक्षता करने के पश्चात् वे इंग्लैंड चले गए। 8 फरवरी, 1907 को उन्हें (ब्रोंकाइटिस) (श्वास नली-शोध) का दौरा पड़ा जो ठीक नहीं हो पाया। डॉक्टरों तथा अपने मित्रों की सलाह पर उन्होंने न चाहते हुए भी सक्रिय राजनीति से संन्यास ले लिया हालांकि स्वराज का उनका आंदोलन अभी शुरू ही हुआ था। 12 अक्टूबर, 1907 को उन्होंने इंग्लैंड को अलविदा कह दिया।

भारत लौटकर वे मुंबई में वरसोवा के अपने घर में रहने लगे। अपने पैतृक घर के माहौल में उनका स्वास्थ्य जल्दी ही ठीक हो गया और उनका मन तथा लेखनी पुनः सक्रिय हो उठे।

एकांतवास में

दादाभाई के जीवन के आखिरी दिनों तक उनका घर नेताओं और जनसाधारण दोनों के लिए ही तीर्थ-स्थल जैसा बन गया था। भारतीय नेता, यहां तक कि ब्रिटिश गवर्नर और वाइसराय भी अक्सर उनसे मिलने आते थे। भारत से संबंधित सभी महत्वपूर्ण राजनीतिक व आर्थिक मसलों पर उनकी सलाह ली जाती थी। कांग्रेस के काम-काज में वे आखिर तक बराबर दिलचस्पी लेते रहे।

उन्हें देश-विदेश से हर रोज ढेरों पत्र प्राप्त होते थे। इनमें कोई उनसे मार्गदर्शन करने का अनुरोध करता तो कोई मदद की अपील

करता। किसी चिट्ठी में कोई जानकारी होती तो किसी में शुभकामनाएं होतीं। जब तक उनके वश में रहा वे अपने हाथ से लिखकर पत्रों के उत्तर देते रहे। इस प्रकार राजनीति छोड़ने के बाद उनका जीवन शांतिपूर्ण परंतु सक्रिय रहा।

उनके जीवन पर दृष्टि डालने पर हम पाते हैं कि गरीबी से अपनी जिंदगी की शुरूआत करके दादाभाई ने राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की। वे परोपकारी, समाज सुधारक, महिला शिक्षा के अग्रदूत और इन सबसे बढ़कर, महान देशभक्त थे। लोग उन्हें आदर से 'ग्रैंड ओल्ड मैन ऑफ इंडिया' कहते थे।

दादाभाई की देशभक्ति अपनी मातृभूति के प्रति उनके सहज प्रेम से उपजी थी। यह उनका निस्वार्थ प्रेम था। उन्होंने देश के लिए अपना कैरियर और व्यापार दोनों दांव पर लगा दिए। वर्षों तक उन्होंने अपने परिवार की देखरेख पर ध्यान नहीं दिया। उनकी मां तथा इकलौते बेटे की उस समय मृत्यु हो गई जब वे सुदूर इंग्लैंड में भारतवासियों के लिए संघर्ष कर रहे थे। बेटी की शादी भी उनकी गैर मौजूदगी में ही हुई।

दादाभाई ने अपने देश की आजादी हासिल करने के लिए अहिंसक और संवैधानिक तरीकों का सहारा लिया। उनका संघर्ष व्यावहारिक था और उसमें किसी के प्रति कटुता नहीं थी। यही कारण है कि जिन लोगों के विरुद्ध उन्होंने संघर्ष किया वे भी उनका सम्मान करते थे। जब उन्होंने स्वराज की मांग की, तब भी उनके खिलाफ कोई कार्रवाई नहीं हुई।

दादाभाई ने अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए भारत तथा इंग्लैंड में लगभग 30 स्वयंसेवी संगठनों की स्थापना की। वे अध्यवसाय में विश्वास करते थे और किसी भी विफलता या बाधा से विचलित नहीं होते थे। ब्रिटिश हठधर्मिता से दादाभाई की दृढ़ निश्चयात्मकता का सही मुकाबला था।

उनकी निस्वार्थ सेवा के प्रति कृतज्ञता के रूप में मुंबई की जनता ने 3 जुलाई, 1869 को उन्हें एक अभिनंदन-पत्र तथा 30 हजार रुपए की थैली भेंट की जो उन्होंने ईस्ट इंडिया एसोसिएशन को दान कर दी।

सन् 1916 में मुंबई विश्वविद्यालय ने उन्हें डॉक्टर ऑफ लॉ की मानद उपाधि प्रदान की।

दादाभाई के अथक संघर्ष के परिणाम सामने आने लगे थे। मिंटो-मॉर्ले सुधार (सन् 1909) नाम से प्रशासनिक तथा राजनीतिक सुधारों का मसौदा सरकार द्वारा तैयार किया जा रहा था। वृद्धावस्था की कमजोरी के बावजूद दादाभाई ने सर मॉर्ले तथा लॉ मिंटो को 90 पृष्ठों के निजी पत्र लिखे, जिनमें उन्होंने अतिरिक्त सुधार सुझाए। किंतु यह बात दुखद रही कि जिन मांगों के लिए दादाभाई संघर्ष करते रहे, उन्हें काफी हद तक स्वीकार करते हुए इन सुधारों की घोषणा उनके देहांत के लगभग दो महीने बाद 30 जून, 1917 को की गई।

इस प्रकार सफल और सक्रिय जीवन जीने के बाद 92 वर्ष पहले उदित हुआ तारा ओझल हो गया। कृतज्ञ राष्ट्र उन्हें सदैव स्मरण करता रहेगा, और सदैव उनका सम्मान करता रहेगा। 60 वर्ष पहले जब उन्होंने राष्ट्रसेवा का बीड़ा उठाया था तब देश जड़ता की स्थिति में था, किंतु जब वे विदा हुए तो भारत पूरी तरह जागृत तथा राष्ट्रवाद की भावना से ओत-प्रोत था और स्वतंत्रता के लिए मचल रहा था। यहीं से स्वतंत्रता की मशाल भारतमाता के अन्य प्यारे पुत्रों और पुत्रियों ने थाम ली।

"मैं ऐसा अधिकार चाहता हूं जो मेरे संविधान का इस प्रकार निर्माण कर सके कि मेरे देश के अनुकूल हो।"

चित्तरंजन दास
(सन् 1917 में कांग्रेस सम्मेलन
में दिए गए भाषण का अंश)